# विचार संगम

## भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

# विचार संगम

## भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

**Books n Books**

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
**पुष्पा शर्मा**
**Books n Books**
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण
प्रथम 2025

**ISBN : 978-81-993854-0-5**

मूल्य - 400/-

रचना - विचार संगम-भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

30

# प्राचीन भारत में अर्थ सिद्धान्त

**भावना जैन**
**सह आचार्य ( शिक्षा विभाग )**
**हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर**

भारतवर्ष की सभ्यता विश्व की सर्वाधिक प्राचीन और समृद्ध सभ्यताओं में मानी जाती है। इसकी विशेषता यह रही कि यहाँ का आर्थिक जीवन केवल भौतिक समृद्धि पर आधारित नहीं था, बल्कि आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के अधीन था। भारत के ऋषियों ने अर्थ को धर्म और काम के बीच संतुलनकारी पुरुषार्थ माना— जो न तो केवल लोभ का प्रतीक था, न ही केवल त्याग का।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों में से अर्थ जीवन का भौतिक आधार है, किंतु जब वह धर्म से जुड़ा रहता है, तभी उसका उपयोग लोकमंगल के लिए होता है। इस प्रकार प्राचीन भारत का अर्थदर्शन केवल धन-संग्रह का विज्ञान नहीं, बल्कि मानव-संतुलन और समाज-कल्याण का विज्ञान था।

**वैदिक काल की आर्थिक व्यवस्था**

वेद भारतीय संस्कृति की जड़ हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद, चारों में हमें उस समय की आर्थिक गतिविधियों का चित्र मिलता है।

ऋग्वेद में 'अन्नं बहु कुर्यात्' कहा गया है— अर्थात् अन्न का अधिकाधिक उत्पादन करो। इससे स्पष्ट है कि कृषि उस काल का प्रमुख व्यवसाय था।

भूमि जोतने वाले 'कृषक' कहलाते थे, बैल हल में जोते जाते थे और वर्षा की प्रार्थना 'इन्द्र' से की जाती थी।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है — 'इन्द्रा वर्षा वृष्टिमिहा वह' — जो कृषि की निर्भरता को दर्शाता है।

पशुपालन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था। गो-संपत्ति को धन का मापदंड माना गया। 'सहस्रं गो:' अर्थात् हजार गायों का स्वामी धनी समझा जाता था। 'गो' शब्द से ही 'गोपति', 'गोपाल' और 'गोपथ' जैसे शब्द बने।

व्यापार का भी उल्लेख मिलता है। व्यापारी को 'वणि्' कहा गया। ऋग्वेद में 'समुद्रं नौपथ्या' और 'सपत्नानां वणिजां नय' जैसे मंत्रों से समुद्री व्यापार की परंपरा झलकती है। विनिमय प्रणाली उस समय प्रचलित थी, किन्तु बाद में धातु मुद्रा का

प्रयोग आरम्भ हुआ।

वेदकालीन अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि अर्थ का उपार्जन धर्मसंगत और न्यायपूर्ण साधनों से होना चाहिए। यजुर्वेद में कहा गया —

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

अर्थात् जो ईश्वर ने दिया है, उसे संयम से उपयोग करो और दूसरों की संपत्ति के प्रति लोभ मत करो।

**उत्तरवैदिक काल और गृहस्थाश्रम की आर्थिक दृष्टि**

ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों और आरण्यकों में जब समाज अधिक संगठित हुआ, तब गृहस्थाश्रम को समाज की आर्थिक रीढ़ माना गया। चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम का स्थान सर्वोच्च था क्योंकि वही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी को पोषित करता था।

गृहस्थ की आथिज़्क नीति चार आधारों पर थी — 1. कृषि, 2. पशुपालन, 3. व्यापार, 4. शिल्प एवं उद्योग।

इस काल में उत्पादन का उद्देश्य केवल आत्मनिर्भरता नहीं था, बल्कि सामाजिक हित भी था। ऋषियों ने कहा कि गृहस्थ को अपनी आय का कुछ भाग दान के लिए, कुछ भाग निवेश (बीज, औजार आदि) के लिए और कुछ परिवार के निर्वाह के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। यह आधुनिक आथिज़्क सिद्धांतों के समान 'आय का विभाजन' है।

**महाकाव्य काल में आर्थिक विचार**

रामायण और महाभारत दोनों में आर्थिक सिद्धांतों की गहरी समझ दिखाई देती है। रामायण में अयोध्या का वर्णन एक समृद्ध नगरी के रूप में किया गया है —

नास्ति तत्र दरिद्रो वा रोगी वा दुःखितः जनः।

अर्थात वहाँ न कोई गरीब था, न रोगी, न दुःखी — यह उस युग की आर्थिक समानता का आदर्श था।

राजा दशरथ और श्रीराम की नीतियों में कर संग्रह, भूमि व्यवस्था, श्रमिक वर्ग की सुरक्षा और व्यापारिक नियंत्रण जैसे सिद्धांत स्पष्ट हैं।

महाभारत के शांतिपवज़् में कहा गया —

धर्मस्य मूलं अर्थः — धर्म का मूल अर्थ है।

अर्थ के बिना न धर्म टिक सकता है न राज्य। परंतु यह भी कहा गया कि 'अर्थः धर्मानुशासनम्' — अर्थ धर्म के अधीन होना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि आर्थिक समृद्धि को नैतिक मर्यादा से बाँधने की परंपरा महाकाव्य काल तक बनी रही।

**स्मृतिकारों का आर्थिक दर्शन**

स्मृतियों में समाज के लिए विधि-विधान बनाए गए।

मनुस्मृति में अर्थोपार्जन के लिए स्पष्ट निर्देश हैं —

धर्मेण अर्थं प्राप्नुयात् नाधर्मेण कदाचन।

अर्थात् धर्मसंगत साधनों से ही अथज़् की प्राप्ति करे।

मनु, याज्ञवल्क्य और नारद सभी ने राज्य को यह आदेश दिया कि कर का उद्देश्य प्रजा का हित होना चाहिए।

मनु कहते हैं — 'राजा करं गृह्णीयात् प्रजानां हितकाम्यया।'

इससे स्पष्ट है कि कर नीति का लक्ष्य केवल राजकोष भरना नहीं, बल्कि लोकक्ल्याण था।

स्मृतिकारों ने यह भी कहा कि धनवानों को दान देना चाहिए, क्योंकि धन तभी पवित्र होता है जब वह समाज में प्रवाहित होता है।

इस सिद्धांत ने भारत को एक 'परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था' बनाया, जहाँ संपत्ति का संचय नहीं, प्रवाह महत्त्वपूर्ण था।

**कौटिल्य के अर्थशास्त्र**

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय आर्थिक विचारधारा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है।

इस ग्रंथ में शासन, वित्त, कर, उद्योग, व्यापार, श्रम, मुद्रा, कृषि — सभी विषयों पर व्यवस्थित नीति दी गई है।

कौटिल्य का प्रमुख सिद्धांत था —

अर्थस्य मूलं राज्यं — अर्थ राज्य की नींव है। उनके अनुसार राज्य की स्थिरता, सुरक्षा और समृद्धि सब अर्थ पर निर्भर है।

उन्होंने आथिज़्क गतिविधियों को चार मुख्य विभागों में बाँटा —

1. कृषि एवं पशुपालन,
2. उद्योग एवं हस्तशिल्प,
3. व्यापार एवं परिवहन,
4. कर एवं राजस्व।

कृषि के लिए उन्होंने सीताध्यक्ष नामक अधिकारी का प्रावधान किया जो भूमि सवेज़्क्षण, बीज, जल-प्रबंध और फसल का निरीक्षण करता था।

उद्योगों के लिए लोहाध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष आदि विभाग थे।

व्यापार में मूल्य-नियंत्रण, माप-तौल और शुद्ध व्यापारिक आचार पर बल था।

उन्होंने लिखा — व्यापारी को 5 प्रतिशत लाभ से अधिक नहीं लेना चाहिए।

यह आधुनिक मूल्य-नियंत्रण का प्राचीन रूप है।

राजस्व नीति में कौटिल्य ने कहा कि कर 'मधुर' होना चाहिए —

**मधुरं करं गृह्णीयात्।**

राजा को यह देखना चाहिए कि कर से प्रजा दुखी न हो।

**मौर्यकालीन आर्थिक व्यवस्था**

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्यकाल में एक संगठित आर्थिक प्रणाली विकसित हुई। सम्राट अशोक के समय यह व्यवस्था और सुदृढ़ हो गई।

* कृषि भूमि का नियमित सर्वेक्षण होता था।
* सिंचाई के लिए नहरें और तालाब बनवाए गए।
* राज्य नियंत्रित उद्योग चलाए जाते थे।
* व्यापार पर राज्य कर लगाता था लेकिन उसका नियमन भी करता था।

राज्य की आय के स्रोत थे — भूमि कर (1/6 उत्पादन), उद्योग कर, सीमा शुल्क, दंड और उपहार।

राजकोष में संचित धन का उपयोग जनकल्याण कार्यों, सड़कों, शिक्षालयों और चिकित्सालयों में किया जाता था।

अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट होता है कि उन्होंने 'लोकहितं मम परमो धर्मः' कहा। यही आथिज़्क नीति का मूल था।

**गुप्तकाल और व्यापारिक उत्कर्ष**

गुप्त युग भारत का स्वर्ण युग कहा गया। इस समय कृषि में उन्नति, उद्योगों का विस्तार और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अद्भुत विकास हुआ। गुप्त सम्राटों ने सुव्यवस्थित मुद्रा प्रणाली चलाई — स्वर्ण, रजत और ताम्र मुद्राएँ।

नगरों में व्यापारी संघ और शिल्प संघ बने, जिन्हें 'श्रेणी' कहा गया। ये श्रेणियाँ वस्त्र, धातु, गहनों और मसालों के उत्पादन को नियंत्रित करती थीं।

गुप्तकालीन लेखों (जैसे मंदसौर अभिलेख) में 'श्रेणीधर्म' और 'श्रेणीभृत' शब्द मिलते हैं, जो संगठित श्रमिक जीवन को दर्शाते हैं। इस युग में भारत का व्यापार रोम, चीन, दक्षिण-पूर्व एशिया और अरब देशों तक फैला। अर्थव्यवस्था समृद्ध और स्थिर थी, क्योंकि राज्य नीति धर्म और न्याय पर आधारित थी।

**ग्रामीण अर्थव्यवस्था और भूमि व्यवस्था**

भारत की अर्थव्यवस्था का आधार सदैव ग्राम रहा। प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर इकाई था, जिसमें किसान, कुम्हार, लोहार, बढ़ई, नाई, तंत्रीकार, बुनकर आदि सभी आवश्यक सेवाएँ उपलब्ध थीं।

भूमि व्यवस्था चार भागों में बँटी थी —

1. राजभोग्य भूमि (राज्य के नियंत्रण में),
2. कृषिभूमि (किसानों द्वारा जोती जाने वाली),
3. देवभूमि (मंदिरों को दान में दी गई),
4. ब्राह्मणभूमि (ब्राह्मणों के भरण-पोषण हेतु)।

भूमि पर कर लिया जाता था लेकिन 'सहनीय' सीमा तक। भूमि दान को 'पुण्यकर्म' माना गया, परंतु भूमि का दुरुपयोग धर्मविरुद्ध समझा गया।

**औद्योगिक और हस्तशिल्प विकास**

भारत में उद्योगों का इतिहास अत्यंत पुराना है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के पुरातात्त्विक साक्ष्य बताते हैं कि वहाँ धातुकर्म, वस्त्र, मिट्टी के बर्तन, आभूषण निर्माण जैसे उद्योग विकसित थे।

वैदिक और उत्तरवैदिक काल में 'कर्मकार', 'कंसकार', 'सुवर्णकार', 'वायोजक', 'मृद्‌भाण्डकार' जैसे शब्द मिलते हैं, जो उद्योगों की विविधता को दर्शाते हैं।

गुप्तकाल तक आते-आते भारत का सूती और रेशमी वस्त्र उद्योग विश्वप्रसिद्ध हो चुका था। रोम, चीन, मिस्र तक भारतीय वस्त्र निर्यात होते थे।

धातु उद्योग में लौह और ताम्र की वस्तुएँ, सिक्के और शस्त्र निर्माण उल्लेखनीय थे।

उद्योगों का संगठन 'श्रेणी' प्रणाली के तहत होता था, जो आज की ट्रेड यूनियन की तरह कार्य करती थी — मूल्य निर्धारण, श्रम सुरक्षा, गुणवत्ता और सामाजिक सहायता सब उसी के अधीन थे।

**व्यापार, मुद्रा और वित्त व्यवस्था**

व्यापार भारतीय जीवन का एक सशक्त अंग था। भीतरी व्यापार (नगरों के बीच) और बाहरी व्यापार (विदेशों से) दोनों विकसित थे। सड़क और जलमार्गों से व्यापार चलता था। प्रमुख मार्ग — उत्तरापथ, दक्षिणापथ, और राजगृह से ताम्रलिप्ति तक का समुद्री मागज़ प्रसिद्ध था। मुद्रा के रूप में ताम्र, रजत और स्वर्ण सिक्के चलते थे — 'निष्क', 'कर्षापण', 'द्रम्म' आदि नाम मिलते हैं।

वित्त व्यवस्था में 'सेठ' और 'श्रेणी' नामक संस्थाएँ थीं, जो धन का उधार, विनिमय, और निवेश करती थीं। आधुनिक बैंकिंग प्रणाली की पूर्वज थीं। राज्य मुद्रा की शुद्धता और भार की एकरूपता सुनिश्चित करता था। नकली सिक्कों पर कठोर दंड दिया जाता था।

**कर एवं राजस्व व्यवस्था**

राजस्व प्रणाली का उद्देश्य जनता से कर लेकर राज्य और समाज के हित में

उसका उपयोग करना था।

कौटिल्य ने कहा — 'राजा मधुरं करं गृह्णीयात् प्रजाः पुष्णाति न पीडयेत्।'

अर्थात राजा को ऐसा कर लेना चाहिए जिससे जनता पोषित हो, पीड़ित नहीं।

भूमि कर सबसे प्रमुख था, जो सामान्यतः 1/6 भाग तक सीमित रहता था।

इसके अतिरिक्त व्यापार कर, सीमा शुल्क, खनिज कर, दंड, और उपहार से भी आय होती थी।

राजकोष का उपयोग रक्षा, न्याय, सिंचाई, शिक्षा, चिकित्सा और धर्मकार्य के लिए किया जाता था। यह संतुलित राजकोषीय नीति थी।

**श्रम, वर्ग और आर्थिक समानता**

भारतीय समाज में श्रम का सम्मान था। वर्ण व्यवस्था का आधार नैतिक गुण और कर्म था, न कि जन्म। ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय शासन से, वैश्य व्यापार से और शूद्र सेवा से अर्थोपार्जन करते थे। परंतु यह विभाजन कठोर नहीं था — महाभारत में उल्लेख है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे का कार्य योग्यतापूर्वक करता है, तो वह भी धर्म है। इससे श्रम का मूल्यांकन कमज़ और योग्यता के आधार पर हुआ, न कि सामाजिक स्थिति पर।

शिल्पकारों, बढ़ई, कारीगरों और लोहारों को सम्मानित नागरिक माना गया। 'श्रेणी' संस्थाएँ उनके हितों की रक्षा करती थीं।

**दान, उपभोग और वितरण की नीति**

प्राचीन भारत का एक अनूठा आर्थिक सिद्धांत था — धन का प्रवाह। धन को सृजन और वितरण का साधन माना गया, संचय का नहीं।

मनुस्मृति में कहा गया —

'अर्थस्य न संचयो हेतुः, अर्थस्य वितरणं हेतुः।'

दान धर्म का अंग था — अन्नदान, विद्यानदान, भूमि-दान आदि को श्रेष्ठ माना गया। उपभोग में संयम और वितरण में न्याय का नियम था।

अर्थ का लक्ष्य था — 'परार्थे अर्थसंग्रहः' — दूसरों के हित में धन का संग्रह।

**नारी और आर्थिक अधिकार**

स्त्रियों को आर्थिक दृष्टि से भी स्वतंत्रता प्राप्त थी। 'स्त्रीधन' की व्यवस्था ने उन्हें व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार दिया। मनु कहते हैं कि स्त्री को उसके विवाह, उपहार, माता-पिता और पति से प्राप्त धन पर पूर्ण अधिकार है।

कौटिल्य ने लिखा — 'स्त्रीधनं न राजा गृह्णीयात्।'

अर्थात राजा भी स्त्रीधन को नहीं ले सकता।

स्त्रियाँ व्यापार, दान और संपत्ति प्रबंधन में सक्षम मानी गईं। यह उस युग की

उन्नत आर्थिक दृष्टि थी।

**अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और भारत की समृद्धि**

भारत का विदेशों से व्यापार प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा। भृगुकच्छ (भरूच), सुपारक (सोपारा), ताम्रलिप्ति, मूसिरि, पत्तनम् जैसे बंदरगाहों से जहाज अरब, मिस्र, यूनान, रोम और चीन तक जाते थे।

नियाज़्त में वस्त्र, रेशम, मसाले, कीमती पत्थर, धातु और औषधियाँ प्रमुख थीं, जबकि आयात में सोना-चाँदी, घोड़े और विलास वस्तुएँ आती थीं।

इस व्यापार ने भारत को 'सोने की चिड़िया' बना दिया।

रोम के इतिहासकार प्लिनी ने लिखा — भारत से व्यापार के कारण रोम का सोना निकल जाता है।

**धर्मशास्त्रीय आर्थिक मर्यादाएँ**

भारतीय अर्थशास्त्र की आत्मा धमज़् में निहित थी। धम ने अर्थ को संयमित किया और लोभ को सीमित रखा।

मनु और याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा —

अधर्मेण अर्थः न सिध्यति।

अर्थात अन्याय या अधमज़् से प्राप्त धन टिकता नहीं। इसलिए आथिज़्क नीति सदैव नैतिकता के अधीन रही।

**नगर व्यवस्था और आर्थिक जीवन**

नगर जीवन व्यापार और उद्योग का केंद्र था।

नगरों में सेठ, महाजन, गण और श्रेणी जैसे संगठन कायज़्रत थे।

नगर निगम जैसी संस्थाएँ नगर के बाजार, कर, नाप-तौल और सफ़ाई की देखरेख करती थीं। नगरों में मुद्रा प्रचलन, बहीखाता का प्रचलन था।